International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

आर्थिक विकास का वैदिक स्वरुप

शोध छात्र
पुनीत चौहान
संस्कृत विभाग
महर्षि दयायन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

अर्थ का स्वरुप

'अर्थ' शब्द 'ऋग्' धातु से निष्पन्न है। जिसका अभिप्राय है – गति अर्थात् जिससे जीवन गतिशील अवस्था में रहे वहीं 'अर्थ' है गतिशील जीवन यात्रा में हमारा जिस–जिस से सम्पर्क होता है, वे सभी अर्थ ही है। 'धन' भी अर्थ का ही पर्याय है अर्थात् सीधे तौर पर हम यह मान सकते हैं कि जिसके माध्यम से इहलोक एवं परलोक के समस्त प्रयोजन सिद्ध हो जाए वहीं 'अर्थ' के नाम से चिह्नित है।

अर्थ मानव जीवन में भोग, आरोग्य एवं धर्म का मुख्य संयोजक बताया गया है। इसकी इच्छा हर एक प्राणी रखता है। मानव की सुख–सुविधा का मूल 'धर्म' को माना है एवं 'धर्म' का मूल 'अर्थ' को बताया गया।

''सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलम् अर्थः (चाण्डक्य सूत्र – 1.2)

''धनात् धर्मः ततः सुखम्'' (निघंटु – 2.10 – देवराज यज्वाकृत व्याख्या)

कौटिल्य ने ''त्रिवर्ग'' में अर्थ को प्रधान बना इसे धर्म एवं काम का मूल माना है।[1] वृतिमूलम् अर्थः (चाण्डक्य सूत्र – 10)

इस दृष्टि से भूमि, धन, विधा, कृषि, कला आदि आजीविका सम्बन्धी सभी वस्तुएँ अर्थ है। अतः अर्थ की गति गहन है। इसमें क्या–क्या समाहित है यह मानव जीवन की आवश्यकताओं पर निर्भर है। वर्तमान में जिन वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव होती है। पूर्व काल में वह कल्पित भी नहीं थी। प्राचीन काल में पशु व अन्न ही विनिमय के साधन बताये। परन्तु वर्तमान में करैंसी नोट उपलब्ध है। इन विविधताओं के रहते हुए

[1] अर्थ एवं प्रधान इति। अर्थ मूलौ धर्म–कामौ (अर्थशास्त्र 1.7.6–7)

भी कुछ सार्वजनीक पदार्थ हैं। जो देश कालाबाधित है। उनमें अन्न, पशु, सोना–चांदी और मुद्रा है, जो अर्थ के स्थाई रुप माने जाते है। यह वर्तमान में भी स्वीकार्य है।

अर्थ–तंत्र के विविध स्त्रोत

कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं व्यवसाय बताये गए। मानव चाहे किसी भी क्षेत्र व काल का क्यों न रहा हो ''अर्थ'' उसकी मूलभूत आवश्यकता है अर्थात् मानव की भौतिक आवश्यकताओं को ही व्यवहारिक दृष्टि से अर्थ की संज्ञा दी गई है। मानव जीवन अर्थ से ही सार्थकता प्राप्त करता है। ''धर्मार्थ काममोक्षाख्यं च इच्छेद धेय आत्मानः'' (श्रीमद भागवत – 4/8/30)

अर्थ के नाम और स्वरूप समय–समय पर परिवर्तित होते रहे है। किन्तु इसके महत्त्व को कभी नकारा नहीं जा सकता। जिसके स्वरुप अर्थ को ''चार'' पुरुषार्थो में स्थान प्राप्त है – कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं व्यवसाय।

कृषि के लिए उपजाऊ भूमि, सिंचाई व्यवस्था, पशुओं के लिए चर भूमि, व्यवसाय एवं उद्योग–धन्धों के लिए कच्चा–माल व निर्माण कला इसके साथ ही वाणिज्य हेतु वस्तुओं का प्रचुर–उत्पादन और बिक्री–क्षेत्र की आवश्यकता होती है। अर्थ तन्त्र इन्हीं पर निर्भर है। अर्थ के चारों रुपों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

यथा – कृषि एवं पशु और वाणिज्य एवं व्यवसाय।

ये कृषि के सहायक रुप में दिखते है, जिससे कृषि अर्थ तंत्र विकसित दिखाई देता है। ब्राह्मण–ग्रन्थों में वर्णित कृषि व पशुपालन व्यवस्था संहिता–काल से उन्नत व वैज्ञानिक प्रतीत होती है। तत्कालीन आर्यो की जिविका के साधन कृषि एवं पशुपालन व्यवस्था थी। संयोग से कहो अथवा उनकी अपनी विशेष बौद्धिक क्षमता से उन्हें इस कार्य के लिए विस्तृत उर्वरू भूमि मिली जो कि विशेष रुप से गंगा, यमुना व सरस्वती आदि नदियों के तटों पर उपलब्ध हुई। कृषि की मुख्य चार वैज्ञानिक क्रियाओं, कृषन्तः वपन्तः, लुनन्तः और मृणन्तः का उल्लेख प्रथमतः शतपथ ब्राह्मण में ही पाया जाता है।

''ते है तामेधतु मेधां चकिरे। यामेषामेतामनुश्रृणवन्ति कृषन्तो ह स्मैव

..... एवौषधयः पेचिरे।'' (शत०ब्रा० 1.6.1.3)

अत इस समय कृषि वैज्ञानिक ढंग से होती थी। कृषि के लिए भूमि जोतने वाले हल को सीर, शुनासीर, लांगलम् आदि बताया।

''लाङ्गलं पवीरवदिति लाङ्गलं रयिमदित्येतत्सुशेवं (शत०ब्रा० 7.2.2.11)

शतपथ ब्राह्मण में ऐसे हलों का उल्लेख है जिसमें चौबीस–चौबीस बैल जोते जाने का वर्णन प्राप्त होता है।[2] खेतों से फसल को अनस् (गाड़ी) से घर लाया जाता था जो प्रचुर मात्रा में अन्न की पैदावार का द्यौतक है। यज्ञों की स्थिति भी अन्न बाहुलता पर निर्भर थी। क्योंकि समृद्ध व्यक्ति ही यज्ञ करते थे। अतः यज्ञों को अनस् भी बताया गया।[3] समृद्धि होने पर मानव धर्म की प्रवृत्ति करता है। जो यज्ञों के माध्यम से मानी जाती थी।

वैदिक काल में कृषि कार्यो के अतिरिक्त पशु–पालन भी जीवन निर्वाह का प्रमुख साधन था। कृषि कार्य एवं पशु–पालन दोनों ही एक–दूसरे के पूरक है। वेदों में जहाँ मानव अपने मंगल की कामना करते है वही चतुष्पाद पशुओं के कल्याण की कामना भी करते है –

''यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे'' (ऋ० 1.114.1)

''शं नो द्विपदे शं चतुषपदे'' (अथर्व – 14.2.40)

पशुओं का मानव जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। पशुओं से कृषि कार्यों में सहायता के अतिरिक्त इनसे खाद्य पदार्थ भी प्राप्त होते थे, यथा – दूध, घी, दही आदि। पशुओं का चर्म वस्त्र आदि निर्मित करने में प्रयोग होता था। वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र–तत्र मांस खाने – खिलाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[4]

अतः मानव समाज में पशुपालन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया। यही कारण है कि वेद में जगह–जगह पशुओं के पालन एवं रक्षण का उपदेश प्राप्त होता है।

---

[2] शत०ब्रा० 7.2.2.6
[3] शत०ब्रा० 1.1.2.7 ''यज्ञो वै अनस्''
[4] शत० ब्रा० 3.1.2.21, डॉ० अल्बेर्तवेवेर, हिन्दी अनुवाद पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय

यथा –उपहूता ऽइह गाव ऽ पहूता ऽ अजावयः (यजु० 3/43)

इम मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् (यजु० 13/47)

पशुओं में एक विशेष प्रकार की गन्ध पाई जाती है। यह गन्ध सोम की मानी जाती है। इसलिए इसे घृणित नहीं माना जाता।[5]

वैदिक साहित्य में वर्णित सात ग्राम्य पशु ही विशेष रूप से आर्थिक क्षेत्र में विशेष लाभदायक थे। यथा – गाय, अश्व, भेड़, बकरी, गर्दभ, ऊंट व कुत्ता। दुधारु पशुओं में सबसे अधिक महत्त्व गाय को दिया जाता है। इसी गौ जाति से सम्बन्धित बैल भी अपनी अलग महता रखता था। क्योंकि कृषि का सारा कार्य इसी की सहायता से सम्पन्न होता था। यज्ञ आदि में भी गाय की विशेष महता थी। यह दान–दक्षिणा की तालिका में प्रथम स्थान पर थी। इस समय गाय का पर्याय ही ''दक्षिणा'' हो गया था। परम उपयोगी व कल्याणकारी गुणों के कारण ही गाय को माँ भी कहा गया है।

इसी सन्दर्भ में अश्व, गर्दभ, ऊंट अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। अश्व इन सबसे श्रेष्ठ माना जाता था। यह युद्ध क्षेत्र व आर्थिक क्षेत्र में उपयोगी था। इसी प्रकार गर्दभ व ऊंट भी आर्थिक क्षेत्र में सहयोगी थे। भेड़–बकरी यज्ञीय कार्यों में उपयोगी थी। अतः हम यह अनुमान लगा सकते है कि पशु वर्ग मानव जाति के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दोनों रुपों में उपयोगी है।

अर्थ व्यवस्था के इसी सन्दर्भ में कृषि एवं पशु पालन ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित प्रतीत होता है तो उद्योग एवं वाणिज्य नगरों से सम्बन्धित दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि जीवन उपयोगी सभी वस्तुएं ग्रामों में उपलब्ध थी, फिर भी इनका बृहद् रुप में उत्पादन नगरों में ही सम्भव था। देश व विदेश में उत्पन्न पदार्थ जनसाधारण को आसानी से प्राप्त हो यही उत्तम अर्थ व्यवस्था थी। यजुर्वेद[6] में वर्णित उद्योग–धन्धे भी विकसित समाज पर प्रकाश डालते है। यही से वाणिज्य का प्रारम्भ होता है। ''वाणिज्य'' शब्द

[5] शत० ब्रा० – 4.1.3.8
[6] यजु० 30.6, 7, 11

''वणिक्'' शब्द से निर्मित है। यजुर्वेद में ''वणिज्'' को तुला से सम्बन्धित बताया (तुलायै वणिजम् – यजु० – 30.17) इसमें कोई संदेह नहीं कि वैदिक युग में ही व्यापार एवं वाणिज्य आरम्भ हो चुका था। अथर्ववेद[7] 3.15.1 सूक्त ''वणिक्'' नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें व्यापार का अति सुन्दर चित्रण है।

व्यापारियों की रुचि व्यापार में सदा बनी रहे। तभी व्यापार में निरन्तर वृद्धि होगी। जिस राष्ट्र में व्यापारियों की रुचि व्यापार में न रहे व राष्ट्र उन्नति नहीं कर पाता।

विनिमय ही व्यापार का मूर्तरूप बताया अर्थात् जब एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु ली जाती है वही विनिमय कार्य कहलाता है। वेद में व्यापार के मूलभूत सिद्धान्त का प्रदर्शन निम्न शब्दों से होता है यथा तू मुझे दे तो मैं तुझे दूँ, मेरी वस्तु तुम रखलो इसके बदले द्रव्य देदो ऐसे सन्दर्भ क्रय–विक्रय विधि को दर्शाते है।

''स यद्राणानं पणते तस्मादिदं ..... क्रयय इत्याह'' (शत०ब्रा० – 3.3.3.1)

वैदिक काल में वाणिज्य और व्यवसायों का कृषि से सीधा सम्बन्ध था। उन्नत कृषि ही तत्कालीन अर्थ व्यवस्था का आधार था। किसी भी व्यवसाय और उद्योग के लिए कच्चा माल, वस्तु निर्माण की जानकारी, कर्मचारी वर्ग, तैयार माल का निर्यात प्रबन्ध वाणिज्य क्षेत्र में वस्तुओं का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन, बिक्री केन्द्रों तक पहुँचाने की व्यवस्था, परिवहन की सुविधा आदि इस क्षेत्र में अपनी अहम् भूमिका रखते है। जिनका इस समय प्रारम्भिक रुप दिखता है। विकासात्मक लक्षणों के स्वरुप वाणिज्य विकास की ओर अग्रसर होना स्वाभाविक था। इस समय व्यापारियों ने न केवल स्वदेश ही अपितु परिवहन सुगमता के कारण विदेशों में भी अपने व्यापार का विस्तार किया।[8]

---

[7] अर्थ० 3.15.1
इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुर एता नो अस्तु
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्।।

[8] ऐतरेय आ० – 1.2.4, A.D. Pulsakar Vedic Age, p. 245

उद्योग एवं व्यवसाय किसी भी समाज की उन्नति में सहायक होते है अथवा किसी भी राज्य की मेरुदण्ड होती है। आरम्भ में आर्यो का आर्थिकी का आधार प्रायः कृषि एवं पशुपालन ही था। इन दोनों के कारण ही शनैः–शनैः कुछ कुटीर उद्योग धन्धे पनपने लगे। धीरे–धीरे उनमें कलात्मक निखार आना आरम्भ हुआ। जिससे उन्हें उन्नति की दिशा प्राप्त हुई। कालान्तर में यही से अनेक प्रकार के छोटे–बड़े उद्योगों ने जन्म लिया। जिससे औद्योगिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सामाजिक अपेक्षाओं के कारण ही भिन्न–भिन्न जातियों का उदय हुआ। जो जन्म आधारित न होकर कर्म आधारित थी। जिसमें जिस कार्य को करने की क्षमता थी उसे उसी क्षेत्र में शामिल किया गया। प्रायः एक ही परिवार में विविध व्यवसायों का अनुसरण होता था। एक ऋचा अनुसार ऋषि का कथन है कि मैं स्तुति करने वाला, मेरे पिता औषध वैध, माता गृहणी, जो विभिन्न कार्य करते हुए भी एक ही परिवार से है।

''कारुश्हं ततो भिषगुपलप्रक्षिणो नना। नानाधियो वसूयवोऽनुगा इवं तस्थि''

(ऋ० – 9.112.3, 3.33.10, निरु – 2.10.6.6)

विभिन्न प्रकार के उद्योग

खनिज उद्योग वैदिक युग में प्रमुख शाखा दिखती है। इस समय यह शाखा उन्नत प्रतीत होती है, ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक बहुमूल्य रत्नों का विवरण प्राप्त होता है। जो अलंकरण एवं साज–सज्जा हेतु प्रयोग होते थे। अनेक प्रकार की धातुओं का उल्लेख जिसमें स्वर्ण, रजत, कांसा, (अयस) लोहा बहु उद्देशीय व अत्यधिक उपयोगी बताई गई।

तन्तुवाय एवं परिधान

आरम्भ से ही मानव अपने शरीर की रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार के पेड़–पौधों व पशु चर्म से अपने शरीर को ढ़कता था। निरन्तर विकास क्रम से इस क्षेत्र में भी तीव्रता आई। अनेक प्रकार के परिधान प्रचलन में आये। शतपथ ब्राह्मण में ताना–बाना

आदि बुनाई के उपकरणों का उल्लेख पाया जाता है।[9] इस समय ऊनी व सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्रों में बड़ा परिवर्तन हुआ, कालान्तर में इस व्यवसाय से ही सम्बन्धित अन्य व्यवसाय पनपे। यथा बुनकर, सूची, रंगरेज, धोबी आदि।

सुवर्णकार

मानव हमेशा ही आभूषण प्रिय था। इस धातु की खोज आर्यो द्वारा बताई जाती है। स्वर्ण से आभूषण निर्मित करने वाला स्वर्णकार कहलाया। स्वर्ण के साथ ही रजत आदि धातु से भी कण्ठ और वक्ष आदि के आभूषण, कान की बालियाँ, स्वर्ण–चषक आदि निर्मित होते थे।[10]

तक्षा (बढई)

बढ़ई का व्यवसाय भी संहिता काल से ही उदीत था। वैदिक साहित्य में इसकी अधिक चर्चा है। यह दैनिक जीवन उपयोगी वस्तुओं के साथ यज्ञादि के लिए भी विविध वस्तुओं का निर्माण करता था। इसके साथ ही इसका एक विशेष वर्ग रथ, नाव, गाड़ी बनाता था।[11] जो रथकार कहलाता था। इसे राजा का संरक्षण प्राप्त था। इसकी शिल्प कला का उदाहरण हमारे सामने इसके द्वारा बनाये गये इतने बड़े हल से भी होता है जिसमें चौबीस बैलों को एक साथ जोड़ा जाता था।

चर्मकार

वैदिक काल से ही चर्म उद्योग भी जन परिचित रहा है। चर्मकार चर्म से विभिन्न उपयोगी वस्तुएँ बनाता था। इसमें प्रत्यंचा, चाबुक, जूते, मश्क, बाद्य–यंत्र आदि वर्णित है। यज्ञादि के लिए मृग चर्म आदि उपलब्ध करवाना भी इसी उद्योग से सम्बन्धित था। इस समय अनेक प्रकार के यज्ञादि हुआ करते थे तो चर्म आसनों की आवश्यकता सामने आती है। जो पूर्णतः ही इसी पर आश्रित दिखती है।

---

[9] शत०ब्रा० – 3.1.2.18
[10] शत०ब्रा० – 6.1.3.5, 12.8.3.11 ''अय सुवर्ण रजतौ रुक्नौ व्युपास्यति''
[11] Monior Williams Dictionary, p. 652, शत०ब्रा० – 1.1.12.12

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

कुंभकार

कुंभकार प्रथम ग्राम्य शिल्पी बताया गया[12] सामाजिक कार्यो में इसकी अनिवार्यता दिखाई देती है। जो वर्तमान में भी झलकती है। इसी कारण यह व्यवसाय उन्नत था। प्राय सभी घरों में मिट्टी के बर्तन उपयोग होते थे। जो इसकी महता ओर बढ़ाते है।

कर्मार (लोहार)

लोहार भी प्रमुख कर्मकार था, पाणिनि ने इसे ''अयस्ताप'' से चिह्नित किया (पाणिनि – 2.4.10 महाभाष्य) यह कृषि के लिए दात्र, फाल, पात्र आदि औजार बनाता था।[13] असुर लोग लोह आदि धातुओं के निपुण शिल्पी माने गये ''असुरा मायिनोऽथस्मथै पाशैरड्किनो ये चरन्ति'' (ऋ० – 6.20.10, अर्थ० – 19.66.1)

यह अन्य घरेलू वस्तुओं के साथ ही युद्ध के लिए भी विभिन्न औजार बनाता था।

अतः हम यह अनुमान कर सकते है कि इस समय उद्योग व अन्य छोटे – छोटे व्यवसाय विकास की ओर अग्रसर थे। जो आर्थिक क्षेत्र में अपनी विशेष भूमिका निर्वाह कर रहे थे। यह सतत् आर्थिक विकास ही था।

[12] यजु० – 16.27
[13] ऋ० – 8.78.10, अथर्व० – 7.5.6